ईकाई – 2

भारतीय न्याय व्यवस्था

2.0 ईकाई परिचय

स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका ही किसी राज्य के सभ्य व स्वतन्त्र होने की परिचायक है। किसी भी सभ्य राज्य की न्यायपालिका के अभाव में कल्पना नहीं की जा सकती।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने एक सर्वोच्च न्यायालय का गठन किया जिसे फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त है। हमारी न्याय व्यवस्था इकहरी न्याय व्यवस्था है, जिसके शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है, जिसमें भारत का एक मुख्य न्यायधीश व कुछ अन्य न्यायधीश शामिल होते है। इसका क्षेत्राधिकार अत्यन्त व्यापक है। यह अभिलेख न्यायालय है और इसके क्षेत्राधिकार में प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय सभी प्रकार के मामले आते है। भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गई है लेकिन इसका क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है, जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय का है। जनहित याचिकाओं और न्यायिक सक्रियता से इसका क्षेत्राधिकार व प्रतिष्ठा और बढ़ी है। इसी तरह से प्रान्तीय स्तर पर उच्च न्यायलयों का गठन किया है जो सर्वोच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय है। उच्च न्यायालय को भी सर्वोच्च न्यायालय की भांति लगभग सारी शक्तियां दी गई है।

2.1 उद्देश्य

- भारतीय न्यायिक व्यवस्था का संगठन कैसा है
- भारतीय न्यायपालिका क्या नागरिकों को स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्याय दिला पाने में सक्षम है
- न्यायपालिका की सबलताओं और दुर्बलताओं का मूल्यांकन
- न्यायपालिका के दोषों को पहचानना और उन्हें दूर करने के उपाय जानना
- सरकार के अन्य अंगों व न्यायपालिका के बीच सम्बन्धों का मूल्यांकन

2.2 भारत की न्याय व्यवस्था (The Judicial System of India)

(सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय, न्यायिक पुनर्निरीक्षण, न्यायिक सक्रियता, जनहित याचिका एवं न्यायिक सुधार)

2.2.1 परिचय

वर्तमान युग में सीमित तथा उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त पर आधारित संविधानवाद के विचार के साथ स्वतन्त्र न्यायपालिका लोकतंत्र की एक अनिवार्य शर्त है। कोई भी संवैधानिक व्यवस्था राज्य की सीमित शक्तियों तथा नागरिकों के परिभाषित अधिकारों के सिद्धान्त पर स्थापित होती है। स्वाभाविक रूप से उसे ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है जो नागरिकों के बीच होने वाले झगड़ों का निर्णय करने एवं कानून का उल्लंघन करने पर दण्ड देने के साथ संविधान द्वारा सरकार पर लगाए गए प्रतिबंधों के पालन तथा संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किए गए अधिकारों के उल्लंघन होने को भी देख सके। संघात्मक ढांचे में सरकार की शक्तियां न केवल सरकार तथा नागरिकों के बीच विभाजित होती है अपितु वे दो प्रकार की सरकारों के मध्य भी विभाजित रहती है। ऐसी राजनीतिक प्रणाली में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की जरूरत और भी अधिक हो जाती है।

भारतीय संविधान–निर्माता एक स्वतंत्र न्यायपालिका के प्रति वचनबद्ध थे। यद्यपि संसदात्मक लोकतंत्र का सिद्धान्त संसद की सर्वोच्चता पर आधारित होता हैं, लेकिन लिखित संविधान तथा संघीय व्यवस्था के साथ संसदात्मक लोकतंत्र के विचार के उद्‌भव के कारण अब संसद सर्वोच्च नहीं रही। अतः संसदीय प्रजातंत्र में भी न्यायपालिका की भूमिका अति महत्वपूर्ण हो गई है।

राज्य की अन्य संरचनाओं की भांति हमें विधि एवं न्याय व्यवस्था भी औपनिवेशिक युग से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी। अंग्रेजी औपनिवेशिक प्रशासन ने भारत में ऐंग्लो–सैक्शन विधिशास्त्र पर आधारित न्याय व्यवस्था को लागू किया था।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस व्यवस्था में कुछ ही परिवर्तन कर इसको अपना लिया। अब संघीय न्यायालय का नाम उच्चतम न्यायालय कर दिया गया और इसको कानून की व्याख्या का सर्वोच्च न्यायालय बना दिया। इसका यह अर्थ भी हुआ कि बहुत से संघीय न्यायालय न होकर भारत में एकरूप न्याय व्यवस्था होगी। यह पदानुक्रम के रूप में हैं। इस न्याय व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय सबसे ऊपर खड़ा है। उच्चतम न्यायालय के नीचे प्रांतीय स्तरों पर उच्च न्यायालय विद्यमान है और उच्च न्यायालयों के नीचे दूसरे न्यायालय हैं। जिनको सहायक न्यायालय कहा जाता है।

2.2.2 उद्देश्य

- न्यायालय का गठन किए प्रकार किया जाता है
- क्या भारत की न्यायपालिका स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्याय की शक्ति रखती है
- न्यायपालिका के कार्यो, शक्तियों तथा स्थिति का मूल्यांकन
- क्या भारतीय न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित कर पाने में सक्षम है
- क्या न्यायपालिका संविधान का रक्षण करने में सफल रही है

2.2.3 उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालय एवं सम्बन्धित विशेष शक्तियाँ

उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा 33 सहायक न्यायाधीश होते हैं। प्रत्येक जज की नियुक्ति राष्ट्रपति, उच्च्तम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों के साथ सलाह करके करता है। मुख्य न्यायाधीश के साथ परामर्श करना अनिवार्य है। न्यायाधीशों का कार्यकाल 65 वर्ष की आयु तक होता है और इससे पूर्व उनको महावियोग द्वारा ही सेवानिवृत किया जा सकता है। इसके लिए संविधान की धारा 124 (4) द्वारा राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि जजों के दुर्व्यवहार सिद्ध होने पर वह जजों को हटा सकता है। संसद के प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन के बहुसंख्यक सदस्यों द्वारा पारित प्रस्ताव और उस सदन में उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित प्रस्ताव के द्वारा हो जजों को राष्ट्रपति हटा सकता है।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियां सामान्यतः राज्यों के उच्च न्यायालयों की खण्डपीठों से की जाती है। यद्यपि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति स्वतः संवैधानिक तरीके से नहीं होती अपितु परम्परा के अनुसार पदासीन मुख्य न्यायाधीश के सेवानिवृत होने पर उसके स्थान पर वरिष्ठतम न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती है। लेकिन इस परम्परा को 1973 में उस समय तोड़ा गया जब राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री के परामर्श पर जस्टिस ए०एन० रे के मुख्य न्यायाधीश के रूप में तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों न्यायाधीश जे०एम० शैलेट, के०एस० हेगडे तथा ए०एन० ग्रोवर को छोड़ते हुए नियुक्त किया। इन तीनों जजों ने विरोध में त्यागपत्र दे दिये। इसके पश्चात् 1977 में जस्टिस एच०आर० खन्ना को छोड़ते हुए उनसे कनिष्ठ न्यायाधीश मिर्जा हामी दुल्लाह वेग को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। जस्टिस एच०आर० खन्ना ने भी त्यागपत्र दे दिया। इस नीति की आलोचना कई न्यायविदों ने यह कहते हुए कि यह उच्चतम न्यायालय को हतोत्साहित करने का प्रयास है।

1977 में सत्तारूढ़ शासक वर्ग न्यायापालिका की स्वतन्त्रता और उसकी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए वचनबद्ध था। अतः मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त को पुनः विस्तार करते हुए फरवरी 1978 में श्री वाई०वी० चन्द्रचूड़ को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया। अजीत नाप रे के कार्यकाल की समाप्ति पर तत्कालीन शासक दल के कुछ नेताओं और कुछ विख्यात विधिनेताओं ने कहा कि श्री चन्द्रचूड़ को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। उनका कहना था कि मुख्य न्यायाधीश से जिस वैचारिक स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की आशा की जाती है, उसका उनमें दुःखद अभाव रहा है। अप्रैल 1976 बन्दी प्रतिक्षकरण (Habeas Corpus) के मामले में उन्होंने साहसपूर्ण निर्णय नहीं दिया। बी०एम० तारकुण्डे के अनुसार, बन्दी प्रत्यक्षीकरण मामले में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला कानूनी दृष्टि से तो कमजोर है ही, जनता और देश के लिए भी एक गम्भीरतम खतरे से भरा है। वह न्याय की धारणा का भी मखौल है।'' श्री छागला के द्वारा भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया लेकिन इस प्रकार की आपत्तियों को अस्वीकार करते हुए सरकार द्वारा सोचा गया कि मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में

सुनिश्चित परम्पराओं को अपनाया जाना चाहिए। शासन का यह कार्य न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा उसके सम्मान के बनाए रखने की दृष्टि से उचित है। वस्तुतः मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिए, जिससे कि न्यायिक क्षेत्र की इन सर्वोच्च नियुक्तियों के सम्बन्ध में शासन के द्वारा मनमाना आचरण न किया जा सके और न्यायाधीश पद पर न्यायाधीश पदधारी व्यक्ति विवाद के विषय न बनें। विधि आयोग ने भी अपनी 80वीं रिर्पोट में कहा है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्ष और लोकतन्त्र के सुचारू संचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वर्तमान प्रक्रिया–संविधान के अनुच्छेद 124 में प्रावधान है कि सर्वोच्च न्यायालय की नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श अवश्य लेगा। इस बात को लेकर विवाद था कि क्या राष्ट्रपति अकेले मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को मानने के लिए बाध्य हैं। इस विवाद के समाधान हेतु राष्ट्रपति द्वारा जुलाई 1998 में एक सन्दर्भ (Reference) सर्वोच्च न्यायालय को भेजा गया। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस संदर्भ पर 28 अक्टूबर 1978 को लिए गए निर्णय के आधार पर अब सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है – राष्ट्रपति द्वारा ये नियुक्तियां सर्वोच्च न्यायालय से प्राप्त परामर्श के आधार पर की जाएगी। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश इस प्रसंग में राष्ट्रपति का परामर्श देने से पूर्व 'चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह' से लिखित परामर्श प्राप्त करेंगे तथा इस परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति को परामर्श देंगे। सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ ने अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा है कि ''वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह को एकमत से और लिखित में सिफारिश करनी चाहिए। जब तक न्यायाधीशों के समूह की राय मुख्य न्यायाधीश के विचार से मेल न खाए, तब तक मुख्य न्यायाधीश द्वारा राष्ट्रपति से कोई सिफारिश नहीं जानी चाहिए।''

सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया है कि ''यदि भारत के मुख्य न्यायाधीश परामर्श की प्रक्रिया पूरी किए बिना न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों के

न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सिफारिश करते हैं तो सरकार ऐसी सिफारिश मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।''

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ (Prowers of the Supreme Court) : संघात्मक संविधान में संघात्मक न्यायालय का विशेष स्थान प्राप्त होता है। ताकि संतुलन कायम किया जा सके और संविधान की सर्वोच्च और केन्द्र तथा इकाईयों को अपने–अपने क्षेत्र में स्वायत्तता (Autonomy) कायम की जा सके।

संविधान ने भारत के सर्वोच्च न्यायालय को बहुत–सी शक्तियाँ प्रदान की हैं। कुछ लेखक तो भारत के सर्वोच्च न्यायालय को अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय से भी अधिक शक्तिशाली बताते हैं। श्री अल्लादी कृष्णा स्वामी अय्यर का कहना है, भारत के सर्वोच्च न्यायालय को संसार के किसी भी अन्य सर्वोच्च न्यायालय से अधिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है, संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय से भी अधिक (The Supreme Court of India has wider Jusridiction that the highest court in any Federation of the world including the Supreme court of USA)।

भारत के न्यायालय को वास्तव में बहुत रूपी शक्तियाँ दी गई हैं, जिनका पता निम्नलिखित बातों से लता है –

1. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)

सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को दो वर्गो में रखा जा सकता है –

(क) प्रारम्भिक सत्यमेव क्षेत्राधिकार (Original Exclusive Jurisdictions) : श्री दुर्गादास बसु का कहना है कि ''यद्यपि हमारा संविधान एक सन्धि या समझौते के रूप में नहीं है, फिर भी संघ तथा राज्यों के बीच व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकारों का विभाजन किया गया है। अतः अनुच्छेद 131 संघ तथा राज्यों या राज्यों के बीच न्याय–योग्य विवादों के निर्णय का प्रारम्भिक तथा सत्यमेव क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपता है।'' सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक सत्यमेव क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते है –

1. भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।
2. भारत सरकार राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद।

3. दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद, जिसमें कोई ऐसा प्रश्न अन्तर्निहित हो जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो। न्यायालय से इस अधिकार के सम्बन्ध में निर्णय की याचना की जानी चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय को केवल संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के पारस्परिक विवादों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक सत्यमेव क्षेत्राधिकार प्राप्त है अर्थात् उपयुक्त प्रकार के विवाद केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही उपस्थित किये जा सकते है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि 26 जनवरी, 1956 के पूर्व जो सन्धियाँ और संविदाएं भारत संघ और देशी राज्यों के बीच की गयी थी और यदि वे इस समय भी लागू है तो उनके उपर उत्पन्न हुआ विवाद सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के बाहर है।

(ख) समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Concurrent Original Juridictions) : संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को लागू करने के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के साथ–साथ उच्च न्यायालयों को भी अधिकार प्रदान किया गया है संविधान के अनुच्छेद 32 (1) के द्वारा विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय को उत्तरदायी ठहराया गया है कि वह ''मौलिक अधिकारों को लागू कराने के लिए समुचित कार्यवाही करे।'' इस प्रकार मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी के द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

2. अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdications)

सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ–साथ संविधान ने अपीलीय क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। उसे समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित चार वर्गो में विभाजित किया जा सकता है।

1. **संवैधानिक (Contitutional) :** संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय

को अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय में संविधान की व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है।

2. **दीवानी (Civil)** : इस सम्बन्ध में मूल संविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी, उसे 1972 में हुए संविधान के 30वें संशोधन द्वारा परिवर्तित कर दिया गया है। इसके पूर्व यह व्यवस्था थी कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में केवल ऐसे ही दीवानी विवादों की अपील की जा सकती थी। जिसमें विवादग्रस्त राशि 20000 रूपये से अधिक हो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में विधि आयोग ने अपनी सिफारिश में कहा कि दीवानी विवादों की सर्वोच्च न्यायालय में अपील के सम्बन्ध में धनराशि की जो सीमा है, वह हटा दी जानी चाहिए। इस सिफारिश के अनुसार 30वां संवैधानिक संशोधन किया गया, जिसके द्वारा अनुच्छेद 133 को संशोधित करते हुए अब धनराशि की सीमा हटा दी गयी है और यह निश्चित किया गया है उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे सभी दीवानी विवादों की अपील की जा सकेगी जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाए कि इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। 30वें संशोधन द्वारा की गयी यह व्यवस्था निश्चित रूप से अधिक उचित और तर्कपूर्ण है।

3. **फौजदारी (Criminal)** : संविधान सभा में सी०पी०के० सेन और अन्य कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया था कि ''मृत्युदण्ड के सभी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय को अपील का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।'' लेकिन सी०के०एम० मुन्शी और अन्य सदस्यों ने यह तर्क दिया कि इससे सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभार बहुत अधिक बढ़ जायेगा और इंग्लैंड आदि देशों में भी इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है। वर्तमान वैधानिक व्यवस्था श्री मुन्शी के विचार के अनुरूप ही है।

फौजदारी विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील निम्न विषयों में सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है –

- यदि उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुति आदेश रद्द कर उसे मृत्युदण्ड दे दिया हो।
- उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया हो।
- अगर उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है, तो अपील की जा सकती है।

4. **विशिष्ट (Special Appeals)** : यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की व्यवस्था की गयी है, लेकिन फिर भी कुछ मामले ऐसे हो सकते है, जो उपयुक्त श्रेणी में नहीं आते, लेकिन जिसमें सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अतः अनुच्छेद 136 द्वारा साधारण कानून से भिन्न अपील सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार, ''इस अध्याय के किसी उपबन्ध के होते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधीकरण द्वारा दिये गये किसी भी निर्णय, आज्ञाति निर्धारण, दण्ड या आदेश की अनुमति प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध में एकमात्र अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।'' सर्वोच्च न्यायालय को यह जो विशिष्ट शक्ति प्रदान की गयी है, उसके द्वारा इसका प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में ही किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय को अब तक भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव सम्बन्धी विवादों पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त था। 39वें संवैधानिक संशोधन (अगस्त 1975) के आधार पर व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष और प्रधानमंत्री इन चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव को उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। 44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1978) द्वारा 39वें संवैधानिक संशोधन को रद्द कर दिया गया और अब उच्चतम

न्यायालय तथा उच्च न्यायालय उपयुक्त चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव विवादों की उसी प्रकार से सुनवाई कर सकते है जिस प्रकार से उसके द्वारा यह कार्य 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व किया जाता था।

3. परमर्शीय क्षेत्राधिकार (Advisiory Jurisdictions)

संविधान ने उच्चतम न्यायालय को परमार्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार से विभूषित किया है। अनुच्छेद 143 के अनुसार यदि कभी राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न पैदा हुआ है, जो सार्वजनिक महत्व का है, तो वह उन प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श मांग सकता है। इस न्यायालय पर संवैधानिक दृष्टि से ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि उसे परामर्श देना ही पड़ेगा।

अनुच्छेद 143 का खण्ड 2 राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह संविधान के लागू होने के पूर्व किसी संधि, समझौते आदि के सम्बन्ध में उठे विवादों को इस न्यायालय के पास उसकी समति जानने के लिए भेज सके। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से 1949 और 1950 के बीच हुए भारत सरकार और देशी रियासतों के समझौते आते है, ऐसे विवादों में न्यायालय के लिए परामर्श देना अनिवार्य है और न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करता है।

उच्चतम न्यायालय का परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार मुक्कदमेंबाजी को रोकने और उसे काफी सीमा तक कम करने में सहायक होता है। लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया के उच्चतम न्यायालयों द्वारा सलाहकारी भूमिका अदा करना पसन्द नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में भारत की व्यवस्था ब्रिटेन, कनाडा और बर्मा के अनुरूप है।

सर्वोच्च न्यायालय के उपयुक्त क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अग्रलिखित अन्य रूपों में कार्य किया जाता है।

4. अभिलेख न्यायालय (Court of Recosel)

अनुच्छेद 129 उच्चतम न्यायालय को अभिलेख न्यायालय का स्थान प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आशय है –

- इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह सादगी के रूप में स्वीकार किये जाते हैं और उन्हें किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।
- इस न्यायालय के द्वारा न्यायालय अपमान (Contept of Court) के लिए दण्ड दिया जा सकता है। वैसे तो यह बात प्रथम स्थिति में स्वतः ही मान्य हो जाती है, लेकिन भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को उसका अपमान करने वालों को यह दण्ड देने की व्यवस्था विशिष्ट रूप से कर दी गयी है।

5. मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक (Guardian of Fundamental Rights)

भारत का उच्चतम न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक हैं। अनुच्छेद 32 (1) उच्चतम न्यायालय को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराता है कि वह ''मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करें।'' न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए बन्दी प्रत्यक्षकिरण, परमादेश, प्रतिबंध, अधिकार प्रच्छा और उत्प्रेषण के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण होने पर वह उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकता है। उच्चतम न्यायालय के अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उच्चतम न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के प्रति सदा सजग रहा है तथा इस कार्य में यह सफल भी रहा है।

इस सबके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review) की शक्ति प्राप्त है।

उच्च न्यायालय (High Court)

न्याय प्रणाली में संविधान ने प्रांतीय स्तर पर सबसे ऊपर उच्च न्यायालय की व्यवस्था की है। संविधान की धारा 125 का कहना है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा। लेकिन दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक सामूहिक उच्च न्यायालय की स्थापना का अधिकार भी संसद को प्राप्त है। ठीक इसी प्रकार से केन्द्र शासित राज्यों के लिए संसद उच्च न्यायालय के क्षेत्र का विस्तार कर सकती है या फिर केन्द्र शासित राज्य के लिए नवीन उच्च न्यायालय की स्थापना भी कर सकती है।

उच्च न्यायालय के जजों की नियुक्तियां सामान्यता उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, राज्य के मुख्य न्यायाधीश तथा राज्य के राज्यपाल के साथ परामर्श कर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उच्च न्यायालय के जजों की संख्या एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न–भिन्न होती है, जजों का एक उच्च न्यायालय से दूसरे राज्य के उच्च न्यायालय में तबादला किया जा सकता है। सितम्बर 1972 में मुख्य न्यायाधीशों के सम्मेलन में यह सुझाव दिया गया कि एक नीति के तहत किसी भी राज्य के उच्च न्यायालय के जजों की कुल संख्या का एक तिहाई राज्य के बाहर से होगा।

इस स्थानान्तरण की नीति ने भी वाद–विवाद को जन्म दिया है। स्थानान्तरण की इस नीति के पद में यह तर्क दिया जाता है कि उच्च न्यायालयों में प्रैक्टिस करने वाले वकीलों में न्यायाधीशों के रिश्तेदारों की संख्या के बढ़ने के कारण सामान्यतः निष्पक्ष न्याय की सम्भावना कम हो गयी है, लेकिन इस नीति का विरोध करने वालों का तर्क है कि स्थानान्तरण करने की शक्ति का दुरूपयोग हो सकता है और कई न्यायाधीश किसी शक्तिशाली गुट का शिकार हो सकता है। इन दोनों तर्को में ही सार है।

जहाँ तक सहायक न्यायालयों में नियुक्तियों का प्रश्न है भारतीय न्यायपालिका एक व्यवसायिक सेवा है। राज्य की न्यायिक सेवा के लिए प्रत्याशी कम से कम तीन वर्ष की वकालत का अनुभव प्राप्त करने पर प्रतियोगिता परीक्षा में बैठते हैं। सफल प्रत्याशियों को सेवा में नियुक्ति से पूर्व विशेष प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। भारतीय प्रतिवादी अदालतें न केवल व्यवसायिक सेवा प्रत्याशियों से भरी जाती है अपितु इसके कर्मचारियों में अमेरिकी न्यायपालिका की भांति वकालत का पेशा करने वाले वकील भी रहते हैं। छोटी अदालतों में केवल कैरियर सेवा वाले जजों को नियुक्त किया जाता है।

उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार एवं शक्तियां

(Jurisdiction and Powers of the High Court)

उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है –

1. न्याय सम्बन्धी अधिकार (Judicial Power)

2. प्रशासन सम्बन्धी अधिकार (Administrative Power)

1. **न्याय सम्बन्धी अधिकार (Judicial Power)**

न्याय सम्बन्धी अधिकारों को तीन भागों में बांटा जा सकता है –

- **प्रारंभिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdictions)** : मुंबई और मद्रास उच्च न्यायालयों में कुछ बड़े दीवानी व फौजदारी मुकदमें प्रथम बार में ही सीधे पेश किए जा सकते हैं। उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वे पहले अधीन न्यायालयों में पेश किए जाए जैसा कि अन्य राज्यों में पाया जाता है। अन्य राज्यों के उच्च न्यायालयों को केवल नौकाधिकरण (Admiralite), वसीयत, विवाह विच्छेद, विवाह विधि, कंपनी विधि आदि के विषय में ही प्रारंभिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।
- उच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का भी रक्षक है। यदि किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों पर आघात होता है, तो वह नागरिक सीधा उच्चतम न्यायालय में प्रार्थना पत्र दे सकता है अथवा उच्च न्यायालय में। उच्च न्यायालय कई लेखों (writs) जैसे बंदी प्रत्यक्षीकरण (writ of habeas corpus), परमादेश (write of Mandamcy) प्रतिषेध (writ of Prohibition), उत्प्रेक्षण (write of Cetorari), पृच्छा लेख (writ of Quo-warantio) के द्वारा नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है। इन लेखों को जारी करने का अधिकार अन्य सब कार्यो के लिए भी है।
- **न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार (Power of Judicial Review)** : भारत में संघीय संविधान होने के कारण संविधान सर्वोच्च है। इसकी कामना करने तथा रक्षा करने का दायित्व उच्चतम व उच्च न्यायालयों को है। इस कारण उच्च न्यायालय राज्य की विधान पालिका के कानूनों तथा कार्यपालिका की आज्ञाओं की वैधानिकता की जांच करते है तथा संविधान के अनुकूल न होने पर उन्हें अवैध घोषित कर सकते हैं। इसको न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार कहते हैं। 43वें संशोधन द्वारा केंद्रीय कानून भी इस परिधि में आ गए है।

2. अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)

सभी उच्च न्यायालयों को अपने अधीन न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार है। ये अपीलें (क) दीवानी और (ख) फौजदारी मामलों में सुनी जा सकती है।

(क) **दीवानी (Civil)** : दीवानी मामलों में उच्च न्यायालयों में कोई भी अपील या पहली अपील होगी अथवा दूसरी अपील। पहली अपील का अर्थ यह है कि जिला न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध सीधे उच्च न्यायालयों में अपील की जा सकती है ऐसा तब ही हो सकता है जब उस मुकदमें में कानून का कोई गहरा प्रश्न उठाया हुआ हो। दूसरे, जब एक अपील जिले का न्यायालय सुन चुका है तो उसके निर्णय के विरूद्ध भी अपील उच्च न्यायालय में हो सकती है परन्तु उसमें कोई कानूनी प्रश्न उलझा होना चाहिए। उच्च न्यायालय में पहली तथा दूसरी अपीलीय क्षेत्राधिकार के अंतर्गत यदि उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश ने अपील सुनी है तो उसके निर्णय के विरूद्ध उच्च न्यायालय में फिर अपील हो सकती है। ऐसी स्थिति में कई न्यायाधीश अपील सुनते हैं।

उच्च न्यायालय आयकर, बिक्री कर तथा अन्य राजस्व सम्बन्धी मामलों में भी निचलें न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील सुन सकता है।

(ख) फौजदारी मुकदमों में निम्नलिखित मामलों में निचले न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील उच्च न्यायालय में हो सकती है –

- यदि सैशन जज ने किसी अपराधी को मृत्यु दंड दिया हो तो उसकी पुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा होनी चाहिए। यह अपराधी स्वयं भी उच्च न्यायालय में अपील कर सकता है।
- यदि निचले न्यायालय ने किसी अपराधी को 4 वर्ष या इससे अधिक की सजा दी हो।
- किसी प्रैसीडेंसी मजिस्ट्रेट के निर्णय के विरूद्ध अपील उच्च न्यायालय में ही होगी।

3. अभिलेख न्यायालय (Court of Record)

उच्च न्यायालय भी उच्चतम न्याायलय की तरह एक अभिलेख न्यायालय है। इसका अर्थ है कि इसके निर्णय प्रमाण के रूप में अन्य न्यायालयों में पेश किए जा सकते हैं। उन्हें इसी प्रकार मान्यता मिलती है जिस प्रकार से अन्य कानूनों को मिलती है। उस राज्य के अन्य न्यायालयों में इसके निर्णय मान्य होंगे।

प्रशासन सम्बन्धी अधिकार (Administrative Powers)

उच्च न्यायालय को न्याय सम्बन्धी अधिकारों के अतिरिक्त कुछ शासन सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं –

- वह अपने अधीन किसी भी न्यायालय के कागजों को मंगवाकर उनकी जांच–पड़ताल कर सकता है।
- उच्च न्यायालय को राज्य के अन्य सभी न्यायालयों पर नियंत्रण रखने तथा उनका निरीक्षण करने का अधिकार है।
- उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों की कार्यवाही के सम्बन्ध में नियम बना सकता है और उनमें परिवर्तन कर सकता है।
- किसी मुकदमें को एक न्यायालय से हटाकर निर्णय के लिए दूसरे न्यायालय में भेज सकता है।
- यदि किसी निचले न्यायालय में कोई ऐसा मुकदमा चल रहा है, जिसमें भारतीय संविधान की धारणा से सम्बन्धित कोई प्रश्न है तो उच्च न्यायालय उस मुकदमें को अपने पास मंगवा सकता है और उसका निर्णय कर सकता है।
- उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के कलर्क, वकील तथा अन्य कर्मचारियों की फीस निश्चित करता है।
- उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति, उन्नति, अवनति तथा छुट्टी आदि के बारे में नियम बनाता है।
- उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों की कार्य–पद्धति, रिकार्ड रजिस्टर बना सकता है तथा हिसाब–किताब देख सकता है।

- उच्च न्यायालय के यह अधिकार है कि यदि उस राज्य के विधानमण्डल ने कोई ऐसा कानून बनाया है जो संविधान के विरूद्ध है तो मामला उच्च न्यायालय में लाये जाने पर यह उसे अवैध घोषित कर सकता है।
- उच्च न्यायालय अपने अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति करता है और उनकी सेवा शर्तो को निश्चित करता है। इस कार्य में यह लोक सेवा आयोग का परामर्श ले सकता है।

भारत ने न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review in India)

न्यायिक पुनर्विलोकन से अभिप्रायः है न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यो की वैधता की जांच करना अर्थात् न्यायालय द्वारा कानून तथा प्रशासनिक नीतियों की संवैधानिकता की जांच तथा ऐसे कानूनों एवं नीतियों को असंवैधानिक घोषित करना जो संविधान के किसी अनुच्छेद का अतिक्रमण करती हैं। कारविन के शब्दों में, ''न्यायिक पुनर्विलोकन का अर्थ न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हें अपने न्याय–क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के सम्बन्ध में प्राप्त हैं, जिन्हें वे अवैध और व्यर्थ समझें।''

भारतीय संविधान के अनेक प्रावधानों में न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का सुदृढ़ आधार उपलब्ध है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संविधान निर्माता सर्वोच्च न्यायालय को ऐसा अधिकार सौंपने के इच्छुक रहे हैं।

अनुच्छेद 13 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी कानून द्वारा राज्य मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उस कानून को अवैध घोषित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 32 द्वारा अपने मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर कोई भी नागरिक संवैधानिक उपचार प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों के संरक्षणन के लिए कार्यपालिका और संसद के द्वारा निर्मित कानूनों का पुनर्विलोकन कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 246 के अन्तर्गत संघ और राज्यों की विधायी सीमा का उल्लेख किया गया है। उच्चतम न्यायालय ऐसे किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है। जिससे संघ अथवा राज्यों ने अपने क्षेत्राधिकार को तोड़ा हो। इसका अभिप्रायः यह

है कि यदि संघ–सूची के विषयों पर कोई राज्य कानून बनाता है तो वह कार्य संविधान के प्रतिकूल होगा और उच्चतम न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित करना।

संविधान के अनुच्छेद 254 में यह प्रावधान किया गया है कि समवर्ती सूची के किसी विषय पर यदि किसी राज्य विधानसभा द्वारा निर्मित कानून संघ संसद द्वारा निर्मित किसी कानून से संघर्ष में है तो राज्य का कानून अवैध माना जायेगा।

संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन का अधिकार एकमात्र केन्द्रीय संसद को ही प्रदान नहीं किया गया है अपितु उसमें राज्य विधानसभाओं की भी निश्चित भूमिका का उल्लेख है। यदि कोई संशोधन विधान की प्रक्रिया के अनुसार नहीं होता तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार ऐसे मामले में जहां संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है, उच्चतम न्यायालय का प्रश्न निहित है, उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि उच्चतम न्यायालय को संवैधानिक मामलों पर निर्णय देने का अन्तिम अधिकार है।

प्रकृति और सीमाएं (Nature and Limitation)

यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गयी है, फिर भी भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है। जितना कि वह संयुक्त राज्य अमरीका में है। वस्तुतः ऐसे कुछ कारण है जिन्होंने भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की व्यवस्था को संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में सीमित कर दिया है।

पहला, अमरीकी संविधान अत्याधिक संक्षिप्त है और संविधान की इस संक्षिप्तता के कारण संघीय शासन और इकाइयों के बीच विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न होते रहते है और इसके परिणाम स्वरूप उच्चतम न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र इस बात के कारण अपेक्षाकृत सीमित है कि भारत के संविधान में संघ और राज्यों के मध्य कानून निर्माण की शक्तियों का विभाजन पर्याप्त विस्तार के साथ कर दिया गया। संघ और राज्यों के मध्य संघर्ष की स्थिति को कम–से–कम करने के लिए एक समवर्ती

सूची की व्यवस्था की गयी है, जिसके सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्र को प्राप्त है। इन विस्तृत उपबन्धों के कारण मुकदमेंबाजी और दूसरे शब्दों में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

दूसरा, अमरीका का अधिकार पर निरपेक्ष (Absolute) शब्दावली में लिखा गया है, लेकिन मानवीय अधिकारों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। अतः इन अधिकारों के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए, पुलिस शक्ति (Police Power) और सामान्य कल्याण (General Welfare) जैसे शब्दों का आश्रय लिया गया। कार्यपालिका 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' के आधार पर अधिकारों की सीमा निश्चित कर सकती है और उच्चतम न्यायालय इस बात की जांच करता है कि कार्यपालिका ने अपनी शक्ति का प्रयोग उचित रूप में किया है अथवा नहीं। इस प्रकार अमरीकी संविधान के 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' जैसे शब्दों ने उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बहुत व्यापक कर दिया है, लेकिन भारतीय संविधान निर्माता भारत में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होने देना चाहते थे। इसलिए भारत में प्रत्येक मौलिक अधिकार के साथ–साथ उनकी सीमाएं भी संविधान में ही निश्चित कर दी गयी है और इससे न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

अन्तिम, सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर इन दोनों देशों की संवैधानिक व्यवस्थाओं में ही निहित है। अमरीकी, संविधान में 'कानून की उचित प्रक्रिया' (Due Porcess of Law) शब्दावली को अपनाया गया है, लेकिन भारतीय संविधान में अमरीकी संविधान की शब्दावली के स्थान पर जापानी संविधान की शब्दावली 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Stablished by Law) को अपनाया गया है संविधान में की गयी इस व्यवस्था के आधार पर अमरीकी उच्चतम न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता की जांच दो बातों के आधार पर कर सकता है – (1) संघ या राज्य, जिसके भी विधानमण्डल ने उस कानून को बनाया है, उसके द्वारा इसका निर्माण उसकी कानून निर्माण की क्षमता के अन्तर्गत था भी या नहीं। (2) वह कानून की उचित प्रक्रिया की शर्तो को पूरा करता है अथवा नहीं। इस प्रकार यदि विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून पूर्णतया उसकी शक्तियों के अन्तर्गत हो, तो यदि वह

कानून की उचित प्रक्रिया के अर्थात् प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों के विरूद्ध हो, तो उसे उच्चतम न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है, लेकिन भारतीय संविधान में 'कानून की उचित प्रक्रिया' की शब्दावली के स्थान पर 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की जापानी शब्दावली के अपनाया गया है। इसका अर्थ यह है कि भारत का उच्चतम न्यायालय संघीय या राज्य–विधानमण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून को असंवैधानिक तभी घोषित कर सकता है, जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में अपनी कानून निर्माण की क्षमता का उल्लंघन किया हो। महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत का उच्चतम न्यायालय यह निश्चित करने में की अमुक कानून संवैधानिक है या नहीं प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों को या उचित–अनुचित की अपनी धारणाओं को लागू नहीं कर सकता। यदि हमारे साथ राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून ऐसा है जिसका निर्माण करने में वह सक्षम है, तो उनकी संवैधानिकता को चुनौती देना भारत के उच्चतम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात है।

भारत के न्यायिक पुनर्विलोकन की जो सीमाएं हैं, उसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है – ''भारत में किसी कानून को केवल इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि वह न्यायालय की सम्मति में स्वतन्त्रता या संविधान की भावना के किसी सिद्धान्त का अतिक्रमण करता है जब तक कि वे सिद्धान्त संविधान में समानिष्ठ न हो किसी संविधि की संवैधानिकता का निर्णय देते हुए न्यायालय को कानून की बुद्धिमता या बुद्धिहीनता, उसके न्याय या अन्याय से कोई सम्बन्ध नहीं है।''

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना (Criticism of the Judicial Review)

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना के प्रमुख आधार इस प्रकार है –

1. **अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य (It Acts as Conservative Force) :** इसमें सन्देह नहीं कि उच्चतम न्यायालय ने अब तक व्यापक स्वतन्त्रता और नागरिक अधिकारों के रक्षक के रूप में कार्य किया है, लेकिन यह भी तथ्य है कि सम्पति सम्बन्धी प्रश्नों पर इसने एक अनुदारवादी न्यायालय और शक्ति के रूप में कार्य किया। 1950–51 में इसने जमींदार और जागीरदारी उन्मूलन के

अन्तर्गत पारित कुछ भूमि सुधार कानूनों को अवैध ठहराया। उच्चतम न्यायालय ने अपनी अनुदारवादिता का सर्वाधिक परिचय 1967 के 'गोलकनाथ विवाद' में 6–5 के बहुमत से यह निर्णय दिया कि संसद ऐसा कोई अधिनियम पारित नहीं कर सकती, जो मौलिक अधिकारों को छीनता या सीमित करता हो। कुछ विधि विशेषज्ञों और संतुलित दृष्टिकोण रखने वाले संसद सदस्यों द्वारा भी उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय की आलोचना की गयी।

2. **उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने पूर्व–निर्णयों में परिवर्तन (Supreme Court Changes its Previous Decisions)** : उच्चतम न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग पर एक प्रमुख आपत्ति यह की जाती है कि उच्चतम न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों में अनवरत परिवर्तन करता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप संवैधानिक कानून की समान आस्थाओं के प्रति भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को वैधानिक दृष्टि से यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर उनमें परिवर्तन कर सकें और न्यायमूर्ति हेगड़े इसे 'न्यायिक पुनर्विलोकन का अनिवार्य अंग मानते हैं। लेकिन 1967–73 के काल में उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व–निर्णयों को जिस प्रकार से परिवर्तित किया है, उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

3. **संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण (Encroachment of Constitutional Limitations)** : उच्चतम न्यायालय द्वारा 1967–71 के काल में जिस प्रकार से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया गया उससे यह स्पष्ट है कि उच्चतम न्यायालय ने अपनी संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए भारतीय राज व्यवस्था में एक भूमिका अदा करने की चेष्टा की जो संविधान–निर्माता उसे नहीं देना चाहते थे। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन को अपनाते हुए की इसकी सीमाएं निर्धारत की गई हैं और भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन उस विस्तार तक नहीं है, जिस विस्तार तक यह व्यवस्था अमरीका में हैं।

4. **सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की अस्थिरता :** न्यायिक पुनर्विलोकन के कारण सदैव ही इस बात का भय रहता है कि संसद द्वारा निर्मित कानून और शासन द्वारा अपनायी गयी नीति न्यायपालिका द्वारा अवैध घोषित की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता का वातावरण बना रहता है। जोकि निश्चित रूप से समस्त व्यवस्था के लिए बहुत अधिक हानिकारक है। न्यायिक पुनर्विलोकन के आलोचकों का कथन है कि न्यायपालिका के द्वारा अपने आपको कानूनी प्रश्नों तक सीमित रखा जाना चाहिए।

5. **संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति को जन्म :** न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के कारण जब संसद द्वारा निर्मित कानूनों को न्यायपालिका के द्वारा असंवैधानिक घोषित कर दिया जाता है तो संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा होती है और जब राज्य व्यवस्था के दो प्रमुख अंगों के बीच ऐसी स्थिति हो, तो शासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism)

अर्थ (Meaning)

न्यायपालिका का मुख्य कार्य अपने सामने लाए गए विवादों का देश के संविधान और कानूनों के अनुसार न्यायिक निर्णय करना है। यद्यपि न्यायपालिका अपने इस कर्तव्य में निष्पक्षता और उच्चादर्शात्मकता का परिचय देती रही है, तथापि हम इसको न्यायपालिका की सक्रियता नहीं कह सकते। लेकिन जब न्यायपालिका अपने न्यायिक अधिकार क्षेत्र से बाहर आकर कार्यपालिका अथवा विधानपालिका के क्षेत्र में हस्तक्षेप करती है तो न्यायपालिका की क्रियाशीलता अथवा न्यायिक सक्रियता का नाम दिया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश पी०बी० सांवत के विचानुसार, ''जब न्यायपालिका ऐसी प्राथमिकताओं, नीतियों और कार्यक्रमों को निश्चित करती है जो कि नीतियों और कार्यक्रम कार्यशीलता व विधानपालिका या अन्य शक्तियों के लिए लागू करना आवश्यक नहीं हैं और उन्हें लागू करने के विषय में निर्णय करना कार्यपालिका

और विधानपालिका या अन्य शक्तियों की इच्छा पर निर्भर करता है तो न्यायपालिका न्यायिक सक्रियता का परिचय दे रही होती है और इस प्रकार न्यायपालिका सरकार के अन्य अंगों के कार्यों, शक्तियों का अवैध तरीके से अतिक्रमण कर रही होती है। जब किसी नीति, योजना या कार्यक्रम की क्रियाशीलता का निर्देशन करने की अपेक्षा उसका व्यापक संचालन न्यायपालिका अपने हाथों में ले लेती है, किसी योजना या नीति को एक विशेष रूप में लागू करने के लिए न्यायपालिका निर्देश जारी करती है जबकि अधिक बेहतर विधियां भी उपलब्ध होती हैं, जब न्यायपालिका कुछ कार्यक्रमों या योजनाओं को लागू करने से ऐसे आधारों पर रोकती है जिनका समर्थन निपुण ज्ञान अथवा विशेषज्ञता द्वारा होता है, जब न्यायपालिका स्वतः स्वायत संस्थाओं की कार्य–प्रणाली में हस्तक्षेप करती है, अपने निर्णय उनके ऊपर थोपती है और प्रमाणित अर्थो से बाहर जाती है तो न्यायपालिका के ये कार्य न्यायिक सक्रियता के प्रतीक होते हैं। संक्षेप में, कानून की व्याख्या करने और उसे लागू करते समय संवैधानिक सीमा का उल्लंघन करना, शक्तियों के पृथककरण की संवैधानिक योजना का उल्लंघन करके कार्यकारी और न्यायिक कार्य को न्यायालय द्वारा अपने हाथों में लेने की प्रक्रिया को न्यायिक सक्रियता कहा जाता है।''

न्यायिक सक्रियता का अर्थ न्यायपालिका द्वारा विधानपालिका या अन्य संस्था के अधिकार क्षेत्र में आने वाले उन कार्यों में हस्तक्षेप करना है जो न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र में न आते हो अर्थात् न्यायपालिका द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर विधानपालिका, कार्यपालिका या अन्य सरकारी अधिकारी को दिए गए निर्देश न्यायिक सक्रियता कहलाते है। संक्षेप में, न्यायपालिका द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र में रहकर सक्रिय भूमिका निभाना न्यायिक सक्रियता नहीं है। अपितु अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर जाकर ऐसे कार्य करना है जो सरकार के अन्य अंगों के निर्धारित अधिकार क्षेत्र में होते हैं।

न्यायपालिका को सक्रियता प्रदान करने वाले तत्व

(Factors Providing Activism to the Judiciary)

न्यायिक सक्रियता के उत्तरदायी कारकों का वर्णन निम्नलिखित है –

1. **कार्यपालिका की कर्तव्य–विमुखता और पथ–भ्रमिता :** कार्यपालिका को कर्त्तव्यविमुखता, पथभ्रमिता, निष्क्रियता एवं उदासीनता ने न्यायिक सक्रियता को उत्पन्न किया है। यह खेद का विषय है कि न केवल केन्द्रीय अपितु प्रान्तीय स्तर पर भी कार्यपालिकाएं अपने उत्तरदायित्वों को निभाने में निरन्तर विफल रही हैं। इसके विपरीत कार्यपालिका द्वारा शक्तिशाली व्यक्तियों को सुरक्षित करने का प्रयास किया जाता है। कार्यपालिका अपने कर्त्तव्य 'बहुजन–हिताय बहुजन–सुखाय' से विमुख हो गई है। कार्यपालिका की कर्त्तव्यविमुखता और पथभ्रमिता के कारण जन–सामान्य में क्षोभ और निराशा पनपी है। कार्यपालिका का निरन्तर विश्वास कम होता जा रहा है। जन साधारण राजनीतिक कार्यपालिका के समक्ष स्वयं को दुर्बल, क्षीण और निरीह अनुभव कर रहे है। न्यायपालिका ने जनमानस की इस लाचारी को समझते हुए कार्यपालिका की अकर्मण्यता को तोड़ा है और उसे उसका कर्त्तव्य समझाया है।

2. **अत्यधिक भ्रष्टाचार :** निरन्तर बढ़ रहे भ्रष्टाचार में एक सामान्यजन चलती चक्की में धुन की तरह पिस रहा है। समाज में भ्रष्टाचार निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर तक इतना अधिक फैल गया है कि इसको मापने के लिए कोई भी पैमाना नहीं है। विशेष रूप से राजनीतिक भ्रष्टाचार ने जनता के विश्वास को खण्डित किया है। भ्रष्टाचार में अत्यन्त प्रभावशाली लोगों के भी लिप्त होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रभावित हो रहा है। न्यायपालिका ने भ्रष्टाचार को दूर करने में सराहनीय क्रियाशीलता दिखाई हैं। न्यायपालिका ने भ्रष्टाचार में लिप्त बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ और सरकारी अधिकारी का पर्दाफाश किया है और उसकी वास्तविकता समाज के सामने प्रकट की है। इस प्रकार अत्याधिक भ्रष्टाचार भी न्यायिक सक्रियता के लिए उत्तरदायी कारक है।

3. **जन–हित याचिका पद्धति :** न्यायपालिका को सक्रियता प्रदान करने वाले तत्वों में जन–हित याचिका पद्धति सबसे महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। वास्तव में जन–हित याचिकाओं के कारण ही न्यायिक सक्रियता का प्रादुर्भाव हुआ। जन–हित याचिका पद्धति से अभिप्रायः ऐसी याचिकाओं से है। जिन्हें सामान्य हित में

पीड़ित व्यक्ति के स्थान पर कोई भी अन्य व्यक्ति एक साधारण पोस्ट कार्ड के माध्यम से दायर कर सकता है। न्यायालय अपने सभी तकनीकी नियमों को एक और रखकर इन पर तत्परता से विचार करता है।

4. **न्यायाधीशों की प्रखरता, निर्भीकता और कर्त्तव्यपरायणता :** न्यायपालिका को सक्रियता प्रदान करने में हमारे विद्वान न्यायाधीशों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। न्यायाधीशों ने बिना किसी दबाव के जिस निर्भीकता से भ्रष्टाचार के मामलों में बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ व अधिकारी को अनावृत किया है, उसने समाप्त न्याय प्रणाली को गतिशीलता मनोबल और सक्रियता प्रदान की है। न्यायाधीशों की निःस्वार्थ कर्त्तव्यपरायणता से न्याय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हुआ है। न्यायाधीश पी०एन० भगवती द्वारा प्रारम्भ की गई जनहित याचिका पद्धति के कारण ही न्यायपालिका अपने उद्देश्य को पूरा करने का सार्थक प्रयास कर रही है। प्रतिदिन न्यायधीशों द्वारा विभिन्न संस्थाओं एवं व्यक्ति समूहों आदि को जारी किए जाने वाले निर्देश न्यायधीश की प्रखरता और कर्तव्यपरायणता को स्पष्ट करते हैं। निःसन्देह इससे न्यायिक सक्रियता को बल मिला है।

5. **अस्थिर राजनीतिक परिदृश्य :** राजनीतिक अस्थिरता न्यायपालिका को सक्रियता प्रदान करने वाला एक प्रभावकारी कारण रहा है। पिछले वर्षों में जिस प्रकार की राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण उभरा है, उससे न्यायपालिका को महत्व मिला है। पिछले कई आम चुनावों में कोई भी दल न तो केन्द्रीय विधानमण्डल में और न ही प्रान्तीय विधानमण्डलों में स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर पा रहा है। ऐसी स्थिति में अल्पमत सरकार बनती है तो विभिन्न दलों के गठबन्धन का परिणाम होती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि कार्यपालिका कमजोर हो जाती है और वह अपने कार्यों को दृढ़तापूर्वक नहीं कर पाती। कार्यपालिका के निर्णय लेने की शक्ति भी क्षीण हुई है। इसके कारण कार्यपालिका की गुणवता का पतन हुआ है। अतः क्षीण बहुमत, अल्पमत एवं मिली–जुली सरकारें तथा दुर्बल कार्यपालिका की स्थिति में न्यायपालिका का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

6. **जन सामान्य का कार्यपालिका के प्रति अटूट विश्वास :** राजनीतिक अस्थिरता, क्षीण बहुमत, अल्पमत सरकारें, मिली–जुली सरकारें कार्यपालिका की दुर्बल स्थिति, कर्त्तव्यविमुखता व दायित्वहीनता आदि से आम जनता का कार्यपालिका से विश्वास निरन्तर घट रहा है पिछले कुछ समय में न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका को बार–बार निर्देश देने से यह अनुभूति होने लगी है कि शासन संचालन न्यायपालिका ही कर रही है। कार्यपालिका की इस स्थिति ने जहां जनता का विश्वास खोया है, वहीं न्यायपालिका की इन नूतन और सक्रिय भूमिका से जनता को संतोष हुआ है।

संक्षेप में न्यायिक सक्रियता के लिए उत्तरदायी तत्वों की संख्या अत्याधिक विविध है और यह निरन्तर बढ़ रही है।

सार्वजनिक हित (जन–हित) संरक्षण से सम्बन्धित मामले

(Public Interest Litigation Cases)

पिछले कुछ वर्षों से सर्वोच्च न्यायालय के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन आ रहा है और वह एक अनुदारवादी न्यायालय के स्थान पर प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले न्यायालय का रूप ग्रहण करता जा रहा है, वह वैयक्तिक हितों के संरक्षक के साथ–साथ सामाजिक हित के संरक्षक के रूप में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने लगा है।

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन न्याय पाने का हक उसी व्यक्ति को है जिससे मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है, किन्तु अपने नवीनतम निर्णयों में उच्चतम न्यायालय ने आंग्ल विधि के उस नियम में परिवर्तन कर दिया है और अनुच्छेद 32 के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि अनुच्छेद 32 के अधीन कोई संस्था या सार्वजनिक हित से उत्प्रेरित कोई नागरिक किसी ऐसे व्यक्ति के संवैधानिक या विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए रिट फाइल कर सकता है, जो निर्धनता अथवा किसी अन्य कारण से न्यायालय में रिट फाइल करने में सक्षम नहीं है। न्यायाधीश श्री कृष्ण अय्यर के अनुसार 'वाद कारण' और 'पीड़ित व्यक्ति' की संकुचित धारणा का स्थान वर्ग कार्यवाही, 'लोकहित में कार्यवाही' की विस्तृत धारणा ले रही है। ऐसे मामले व्यक्तिगत मामलों में अलग होते हैं। व्यक्तिगत मामलों में वादी और

प्रतिवादी होते है जबकि सार्वजनिक हित संरक्षण से जुड़े मामले किसी एक व्यक्ति की बजाए 'समूह' से जुड़े होते है जो कि शोषण और अत्याचार का शिकार होता है और जिसे संवैधानिक और मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है कुछ ऐसे मामले जिन पर सर्वोच्च न्यायालय ने विचार किया है निम्नलिखित है –

1. **आगरा प्रोटेक्शन होम केस (Agra Protection Home Case)** : इस केस में लगभग 70–80 लड़कियाँ रहती थी। इन लड़कियों के बारे में इण्डियन एक्सप्रेस अखबार में यह खबर छपी कि उनके साथ मानवीय स्तर का व्यवहार नहीं हो रहा है। इन लड़कियों के रहने तथा काम करने के लिए मनुष्योचित परिस्थितियाँ प्रदान नहीं की गयी हैं। यहाँ तक कि उनके लिए स्नानघर नहीं है और शौचालय भी दरवाजा के बिना ही है। इन लड़कियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि ये अपने अधिकारों के लिए न्यायालय में जा सकें। ऐसी स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय ने कानून के दो प्रोफेसरों को इन लड़कियों की ओर से पैरवी करने की इजाजत दी।

2. **बम्बई के पटरीवासियों का मामला (The Case of the Bombay Pavement Dwellers)** : यह मामला भी सार्वजनिक हित संरक्षण से सम्बन्धित है। मुख्य न्यायाधीश के सामने एक पत्रकार ओल्गा तेलिस ने बम्बई के पटरीवासियों का मामला उठाया और न्यायालय ने अन्तरिम आदेश जारी करके पटरीवासियों की सुरक्षा का इन्तजाम किया।

3. **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन (Sunil Batra v/s Delhi Administration)** : इस मामले में एक आजीवन कारावास का दण्ड भुगत रहे कैदी के साथ जेल वार्डन द्वारा क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार के विरूद्ध एक–दूसरे कैदी ने पत्र द्वारा न्यायालय को इस अमानवीय घटना की सूचना भेजी। न्यायालय ने इस पत्र को बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट मानकर जेल–प्राधिकारियों के विरूद्ध निर्देश जारी किया कि उक्त कैदी के साथ अमानवीय व्यवहार न किया जाए और अपराधी व्यक्ति को दण्ड देने की उचित कार्यवाही की जाये। बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट का प्रयोग केवल अवैध कारावास से विमुक्ति के लिए ही नहीं

वरन् जेल में कैदियों के विरूद्ध किये गये सभी प्रकार के अमानवीय व्यवहारों के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करने के लिए भी किया जा सकता है।

4. **पुलिस ड्राईवर का केस (The Case of Police Driver)** : सर्वोच्च न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की बैंच ने दिल्ली पुलिस के एक ड्राईवर सिपाही की उस रिट याचिका को स्वीकार कर लिया जिसमें अन्य विभागों के ड्राइवरों की तुलना में उसको नीची वेतन श्रृंखला देने की चुनौती दी गई है। रिट याचिका स्वीकार करते हुये बैंच ने कहा कि अनुच्छेद 14 में राज्यों को स्पष्ट निर्देश है कि कानून के सामने समानता के सिद्धान्त से किसी व्यक्ति को वंचित नहीं रखा जा सकता। न्यायमूर्ति चिनप्पा रेड्डी ए०पी० सेन व बहारूल इस्लाम ने अपने फैसले में कहा कि यदि समान काम के लिए समान वेतन न दिया जाये तो संविधान में निहित समानता का सिद्धान्त लोगों के लिए बेमानी हो जाएगा। बैंच ने रणधीर सिंह के इस तर्क को स्वीकार किया कि वह दूसरे कार्यरत ड्राइवरों से कम काम नहीं करता। न्यायालय ने केन्द्रीय सरकार को निर्देश दिया कि नारायन सिंह को भी रेलवे सुरक्षा दल के ड्राईवरों को दिया जाने वाला वेतन ही दे। न्यायाधीशों ने आदेश दिया कि उच्च वेतन श्रृंखला 1 जनवरी, 1973 से दी जानी चाहिए। जिस दिन वेतन आयोग की सिफारिश अमल में लाई गई थी। न्यायालय ने कहा कि दिल्ली पुलिस के ड्राइवरों में वर्गीकरण व उनको नीची वेतन श्रृंखला का सुझाव अनुचित और तर्कहीन है।

5. **तिलौनिया (अजमेर जिला) के श्रमिकों का केस (Case of Construction Workers in Tillonia)** : तिलोनिया के श्रमिकों का मामला शोध संस्थान चलाने वाले बंकर राय ने न्यायालय के समक्ष रखा। उनका कहना है कि वहाँ जो हरिजन महिलाएँ कार्य करती है उन्हें कम मजदूरी दी जाती है। यह मजदूरी न्यूनतम मजदूरी से भी कम है और उसमें भी कुछ मजदूरी की पेनाल्टी क्लाज (Penalty Clause) के अन्तर्गत कटौती कर दी जाती है। न्यायालय का मानना है कि न्यूनतम मजदूरी दिये बिना काम लेना अनुच्छेद 23 का उल्लंघन है और यह एक प्रकार से बेगार (Forced Labour) है।

6. **बन्धुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ :** इस मामले में एक संस्था ने पत्र द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को सूचित किया कि पंजाब राज्य के फरीदकोट जिले की पत्थर खानों में काफी संख्या में श्रमिक अमानवीय दशा में कार्यरत हैं और उनमें से अनेक बन्धुआ श्रमिक भी हैं। न्यायालय ने पत्र को रिट मानकर दो अधिवक्ताओं का एक आयोग नियुक्त किया जिसने जांच करके न्यायालय को रिर्पोट दी कि संस्था का आरोप सत्य है। न्यायमूर्ति श्री भगवती ने बहुमत का निर्णय सुनाते हुए कहा कि जनहित वाद के ऐसे मामले में सरकार को आपत्ति करने के बजाय स्वागत करना चाहिये ताकि सरकार समुचित कदम उठाकर बन्धुआ मजदूरों को मुक्त कर सके या उनकी स्थिति में सुधार कर सके।

7. **रूदलशाह बनाम बिहार राज्य :** इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि उसे अनुच्छेद 32 के अधीन राज्य के कार्यो द्वारा पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करने की शक्ति प्राप्त है। इस मामले में रूदल शाह को किसी अपराध में अभियोजित किया गया था, किन्तु सेशन न्यायालय द्वारा उसे 30 जून, 1968 को विमुक्त कर दिया गया था, किन्तु उसके बावजूद राज्य प्राधिकारियों के अनुत्तरदायित्वपूर्ण आचरण के कारण 14 वर्ष तक हजारी बाग जेल में सड़ना पड़ा और 16 जून 1982 को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने पर जेल से रिहा किया गया। सर्वोच्च न्यायालय ने बिहार राज्य को निर्देश दिया कि वह रूदल शाह को 35000 रूपये प्रतिकर देखकर क्षतिपूर्ति करे क्योंकि उसके अधिकारियों के उपेक्षापूर्ण आचरण के कारण उसे 14 वर्ष तक अवैध रूप से जेल में रहना पड़ा।

8. **पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत राज्य :** इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला ऐतिहासिक सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि लोक हितवाद को बढ़ावा देने से न्यायालय में मुकदमें की संख्या में वृद्धि होगी और उनके निपटारे में विलम्ब होगा।

जनहित याचिकाओं पर पाबन्दी लगाना ज्यादती है। यदि सर्वोच्च न्यायालय के दरवाजे बन्द हो जाए तो माध्यम वर्गीय लोग न्याय हासिल करने के लिए कहां जाएगे ?

न्याय व्यवस्था – सुधारों की आवश्यकता (Judicial System – Need for Reforms)

न्याय प्रशासन का सामाजिक पक्ष है और निष्पक्ष तथा समदर्शी न्याय में समाज का भी दाव लगा है हाल में अपनी सक्रियता को प्राप्त करने के बावजूद भी भारतीय न्याय व्यवस्था अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का ठीक प्रकार से निर्वाह नहीं कर पायी है। इसका मुख्य कारण न्याय प्रशासन की उत्तराधिकार में प्राप्त औपनिवेशिकता तो है ही परन्तु न्यायिक व्यवहार तथा राजनीतिक प्रक्रिया भी किसी न किसी सीमा तक इसके लिए उत्तरदायी है। यह राजनीतिक प्रक्रिया भी वह है जो पिछले वर्षों में विकसित हुई है। इसलिए एक ऐसा वातावरण बनाने के लिए सुझाव दिये गये है। जिसके अन्तर्गत न्यायापालिका और अधिक तथा उद्देश्यपूर्ण तरीकों के साथ कार्य कर सके। न्यायपालिका तथा कार्यपालिका एवं विधायिका के माध्य ऐसे सौहार्दपूर्ण रिश्ते कायम होने चाहिए जिससे किसी की भी निर्धारित भूमिका में कोई महत्त्वपूर्ण कमी न आ पाये।

कुछ प्रेषकों के द्वारा इस प्रसंग में यह सुझाव दिया गया है कि जजों की नियुक्ति उनके सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन तथा दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। इस सुझाव के आलोचकों का कहना है कि इस प्रयास के द्वारा वे इस प्रतिबद्ध न्यायपालिका की रचना करना चाहते है जो अन्ततः सत्ता में विद्यमान दल की सहायक मात्र बनकर रह जाये। इसलिए कुछ टीकाकारों का सुझाव है कि संविधान में प्रदत्त सामाजिक न्याय के अनुकूल मूल्यों एवं मानकों की निश्चित सूची को शामिल किया जाना चाहिए और न्यायालय अपनी व्याख्या में इन नियमों का अनुसरण करने के लिए बाध्य होने चाहिए। ऐसा करने पर न्यायालय द्वारा संसद के नीति–निर्णयों में हस्तक्षेप करने का क्षेत्र सीमित हो सकता है। इसलिए न्यायालय के किसी भी कानून को लागू करने या परिच्छेद में शामिल कार्यप्रणाली सम्बन्धी अनिवार्यताओं का निरीक्षण करने का अधिकार होना चाहिए न की उसके पर्याप्त मूल्य सार का। यह भी सुझाया

गया है कि किसी भी कानून को अवैध घोषित करने के लिए एक विशिष्ट बहुमत जो कि दो–तिहाई से कम नहीं होना चाहिए अनिवार्य होना चाहिए। इस प्रकार का प्रावधान 42वें संविधान संशोधन में किया गया था लेकिन 44वें संविधान संशोधन द्वारा उसे समाप्त कर दिया गया।

यह भी कहा जाता है कि अच्छे वकीलों तथा प्रखर विधि ज्ञाताओं को न्यायिक व्यवस्था में आकर्षित न कर पाने के कारण भी हमारी न्याय व्यवस्था सूक्ष्म नहीं है। यह कहा जाता है कि हम अपने जजों के लिए आकर्षित सेवा शर्ते प्रस्तुत नहीं करते है और इसके बगैर हम प्रखर बुद्धि वाले लोगों को आकर्षित नहीं कर पायेंगे। जहाँ तक सेवा शर्तों का प्रश्न है निश्चय ही यह याद रखा जाना चाहिए कि उच्च न्यायालयों के अधिकतर जजों की नियुक्ति वकील समुदाय से की जाती है और हम जब तक तीव्र बुद्धि वाले वकीलों की नियुक्ति जजों के रूप में नहीं कर सकते जब तक हम उनको आकषित शर्ते पेश नहीं करते क्योंकि वकील के रूप में उनकी आमदनी काफी अधिक होती है। परन्तु वेतन तथा सेवा शर्तों में सुधार ही पर्याप्त न होगा। अदालतों की कार्यप्रणाली में व्यापक परिवर्तन करने के उद्देश्य निश्चय ही अन्य दूसरे बहुत से उपायों को भी अपनाना होगा सितम्बर 1955 में मुख्य न्यायाधीशों, मुख्यमंत्रियों तथा कानून मंत्रियों के दो दिवसीय सम्मेलन में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए शांतिशील अदालतों की स्थापना हेतु कानून बनाना, गुजरात राज्य वैधानिक सहायता बोर्ड के प्रारूप के आधार पर लोक अदालतों की स्थापना नगरपालिका या यातायात सम्बन्धी अपराधों तथा दूसरे छोटे मामलों के निर्णय करने के लिए विशेष मैजिस्ट्रेटों की नियुक्ति और सरकारी सेवकों तथा सरकारी कामगारों के लिए सर्विस ट्रिब्यूनल बनाने की सिफारिश की गयी।

यहाँ पर यह उद्धृत किया जा सकता है कि लोक अदालतों ने पहल से ही गुजरात, महाराष्ट्र, यू०पी०, तमिलनाडू तथा दिल्ली में कार्य करना शुरू कर दिया है और यह अदालतों से बाहर छोटे केसों का निपटारा कर मध्यस्थाता के रूप में महत्वपूर्ण कार्य को कर रही है। उनमें से कई को संस्थात्मक रूप प्रदान किया जाना चाहिए। जिससे कि विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में शीघ्र एवं सस्ता न्याय उपलब्ध हो सके, यह विस्तारित वैधानिक ट्रिब्यूनलों एवं अदालतों पर बढ़ते कार्यभार को कम करने में सहायता कर सकेगी। परन्तु ये कदम सामान्य जनता की सामान्य समस्याओं के संदर्भ

में महत्वपूर्ण हो सकते है, लेकिन विशेषकर न्यायपालिका विधायिका तथा कार्यपालिका के मध्य अन्तःक्रिया के प्रसंग में एक ठोस न्यायिक व्यवस्था के लिए कारगर उपाय नहीं हो सकते।

2.2.4 निष्कर्ष

इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक गतिशील लोकतन्त्र को एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता होती है, लेकिन उसको एक प्रभावशाली कार्यपालिका तथा विधायिका भी चाहिए। विधायिका तथा कार्यपालिका ऐसे लोगों का प्रतिनिधित्व करती है जो उनका निर्वाचन करते हैं, किन्तु जजों की नियुक्ति होती है इसलिए वे प्रतिनिधि नहीं होते। लेकिन इसका कदाचित भी यह अभिप्रायः नहीं हो सकता कि निर्वाचित प्रतिनिधि गैर–जिम्मेदार कार्यो को करें या वे अतिशक्तिशाली बन जायें। इसलिए यह अनिवार्य है कि सरकार के ये तीनों अंग एक सौहार्दपूर्ण तरीके से कार्य करें और एक–दूसरे पर नियंत्रण करते हुए नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा गरिमा को सुनिश्चित करें। इसी के साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि न्यायिक प्रशासन को सक्षम, कम समय लगाने वाला तथा कम खर्चीला बनाया जाये जिससे कि यह जन–साधारण को न्याय उपलब्ध करा सके और केवल विशेषाधिकार लोगों के अधिकारों की रक्षा करने वाला साधन मात्र बनकर न रह जाये।

2.2.5 मुख्य शब्दावली

- प्रारंभिक क्षेत्राधिकार : वो मुकद्में जो सीधे सर्वोच्च न्यायालय में दायर किए जा सकते है।
- दीवानी मुकद्मा : जो पैसे के लेन–देन या सम्पत्ति से सम्बन्धी मुकद्में
- फौजदारी : जो मुकद्में हत्या, लुटपाट, हिंसा यानी गंभीर अपराध की श्रेणी में आते है उन्हें फौजदारी मुकद्में कहा जाता है।
- अपीलीय क्षेत्राधिकार : जब कोई मुकद्मा निचली कोर्ट में आरम्भ होता है और निचली कोर्ट के निर्णय के विरूद्ध ऊपरी कोर्ट में मुकद्मा दायर किया जाये।

- न्यायिक सक्रियता : जब न्यायपालिका अपने अधिकार – क्षेत्र से बाहर जाकर कार्यपालिका अथवा विधानपालिका के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करती है उसे न्यायिक सक्रियता कहा जाता है।

2.2.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत के सर्वोच्च न्यायालय की संरचना एवं शक्तियों की व्याख्या कीजिए।
2. भारत के सर्वोच्च न्यायालय की रचना, क्षेत्राधिकार तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. उच्च न्यायालय की बनावट व शक्तियों का वर्णन कीजिए।
4. राज्य के उच्च न्यायालय के गठन, शक्तियों और भूमिका की विवेचना कीजिए।
5. न्यायिक सक्रियता से क्या आशय है ? इसके मुख्य साधनों का वर्णन कीजिए।
6. न्यायिक सक्रियता के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दीजिए।
7. न्यायिक सक्रियता के संदर्भ में इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
8. जनहित याचिका पर एक निबन्ध लिखिए।
9. भारत में न्यायिक पुनर्निरीक्षण की प्रणाली का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
10. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों की नियुक्ति कैसे की जाती है ?
11. उच्च न्यायालय द्वारा जारी किए जाने वाले पाँच लेखों का उल्लेख करे।
12. न्यायिक सक्रियता के दोष बताए।
13. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों को पद से कैसे हटाया जा सकता है ?
14. न्यायपालिका के दोषों में कैसे सुधार किए जा सकते है ?
15. जनहित याचिका क्या है ?

2.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966

- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998

- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012